जनसत्ता

10 दिसंबर, 2019

कचरे का पहाड़

देश में कचरा निपटान किस कदर गंभीर समस्या बनता जा रहा है, इसका पता इस सरकारी तथ्य से चलता है कि कुल कचरे के सिर्फ सत्तावन फीसद हिस्सा का ही निपटान हो पा रहा है, बाकी तियालीस फीसद कचरे के निपटान का कोई बंदोबस्त हमारे पास नहीं है। जाहिर है, कचरे की यह मात्रा कोई कम नहीं है और इसी वजह से हमारे महानगर, शहर, यहां तक कि गांव-कस्बे भी कूड़े के ढेरों से अटते जा रहे हैं और लोग इसी गंदगी में रहने के लिए अभिशप्त हैं। हाल में आवास और शहरी विकास मंत्रालय ने कचरा निस्तारण के संबंध में जो राज्यवार ब्योरा जारी किया है, वह स्वच्छ भारत अभियान की हकीकत को बताने के लिए काफी है। संसद में पिछले हफ्ते पेश रिपोर्ट में बताया गया कि देश में रोजाना करीब डेढ़ करोड़ टन कचरा निकलता है, जिसमें से करीब सत्तावन फीसद कचरा ही ऐसा होता है जिसे प्रसंस्कृत कर उपयोग में लाया जा सके। लेकिन बाकी कचरा सिरदर्द बनता जा रहा है। आज तमाम शहरों में कचरे के जो पहाड़ देखने को मिलने रहे हैं, वे इसी कचरे की देन हैं। सवाल है कि इस कचरे से कैसे निजात मिले।

स्वच्छ भारत अभियान की शुरुआत भारत को साफ-सुथरा बनाने के मकसद की गई थी। तब देश को यूरोप के शहरों जैसा बनाने की बातें और दावे किए जा रहे थे। लेकिन स्वच्छ भारत अभियान का हश्र भी वही हुआ जो दूसरी सरकारी योजनाओं और इस तरह के प्रयासों होता आया है। इसमें सरकार और जनता दोनों की लापरवाही है। शहरों को साफ-सुथरा बनाने के लिए न तो सरकार के पास पर्याप्त साधन और तकनीक हैं और न ही ऐसे कामों को स्थायी रूप से करने की इच्छाशक्ति। अभियान चला तो दबाव में कुछ दिनों तक सबने सक्रियता दिखाई, लेकिन उसके बाद सब कुछ पुराने ढर्रे पर आ गया। इसके लिए जनता भी उतनी ही जिम्मेदार है। अपने इलाकों को साफ-सुथरा रखन के लिए आमजन से जिस तरह की भागीदारी की अपेक्षा की जाती है, उसका भी घोर अभाव देखने को मिलता है। इसलिए शहरों में जगह-जगह कचरा फेंकने की प्रवृत्ति सामान्य-सी बात है।

हालांकि देश के कई शहरों में नगर निगमों ने घर-घर से कचरा उठाने की दिशा में काम शुरू किया और इस दिशा में एक सीमा तक कायमायबी भी मिली, लेकिन इन निगमों के सामने बुनियादी समस्या इस एकत्रित किए गए कचरे को ठिकाने लगाने की है। जमा कचरे को कहां फेंका जाए, इसका इलाज ज्यादातर स्थानीय निकायों के पास नहीं है। इसका नतीजा यह होता है कि शहरों के बाहर कूड़े के पहाड़ खड़े होते जा रहे हैं। दूसरे शहरों की बात तो दूर, राजधानी दिल्ली में तीन दशक से भी ज्यादा समय से कचरे के तीन बड़े पहाड़ खड़े हैं और इक्कीसवीं सदी के साधन-संपन्न युग में भी इनका कोई उपचार नहीं किया जा सका है। कचरा प्रबंधन का काम सरकार और जन-भागीदारी दोनों का है। अपष्टि प्रबंधन को लेकर हालांकि कई बार विदेशी मॉडलों की बात हुई है, लेकिन ऐसी योजनाएं भारत में परवान चढ़ जाएं, यह मौजूदा हालात में संभव नहीं लगता। ऐसा भी नहीं है कि कचरा प्रबंधन असंभव काम हो। पिछले दो साल में मध्यप्रदेश के शहर इंदौर ने कचरा प्रबंधन की दिशा में बड़ी कामयाबी हासिल करके यह साबित किया है कि शहर को साफ-सुथरा रखना और कचरे का निस्तारण कोई मुश्किल काम नहीं है। जैसे और मामलों में हम विदेशों से तकनीकी और ज्ञान लेते हैं, कचरा प्रबंधन की दिशा में भी यह पहल की जा सकती है।

असुरक्षित स्त्री

करीब सात साल पहले दिल्ली में चलती बस में एक युवती से बलात्कार और बर्बर हत्या के बाद देश भर में व्यापक आक्रोश फैला था। दिल्ली से लेकर अलग-अलग राज्यों में लोग सड़कों पर उतर गए और महिलाओं की सुरक्षा को लेकर सरकार से कानूनों को सख्त बनाने से लेकर हर संभव उपाय करने की मांग की गई। तब जस्टिस जेएस वर्मा समिति ने इस मसले पर अपनी विस्तृत रिपोर्ट और सिफारिशें सरकार को सौंपी थी। उसके बाद बलात्कार और यौन हिंसा से संबंधित कानूनों में सख्त प्रावधान किए गए। समाज से लेकर सरकार के स्तर पर जिस तरह की संवेदनशीलता देखी गई थी, तब लगा था कि लोगों के सोचने-समझने और व्यवहार में तब्दीली आएगी और शासन-तंत्र भी अपने कामकाज के तौर-तरीके में बदलाव लाएगा और आने वाले वक्त में महिलाओं का जीवन सहज होगा। लेकिन इतने सालों के बाद भी सच यही है कि महिलाओं के खिलाफ अपराधों में कोई कमी नहीं आई। सवाल है कि हर मोर्चे पर खुशहाली लाने के दावों के बीच महिलाएं आज भी खुद को सुरक्षित महसूस क्यों नहीं पाती?

हालत यह है कि बीते कुछ सालों में महिलाओं के खिलाफ अपराधों की प्रकृति में ज्यादा जघन्यता देखी गई है। पिछले दिनों हैदराबाद में एक पशु-चिकित्सक से बलात्कार और उसे जला कर मार डालने की घटना के बाद जब पुलिस ने आरोपियों को कथित मुठभेड़ में मार डाला, तब भी कहा गया कि ऐसी सख्ती से बाकी अपराधियों के हौसले कमजोर होंगे। लेकिन हैदराबाद की घटना के बाद ऐसी ही कम से कम आधा दर्जन घटनाएं सामने आ चुकी हैं। हाल ही में उन्नाव में एक युवती को बलात्कार के बाद जला दिया गया। इसके अलावा, त्रिपुरा के अगरतला में एक लड़की से सामूहिक बलात्कार के बाद जिंदा जला दिया गया, वहीं बिहार के मुजफ्फरपुर में घर में अकेली युवती को बलात्कार में नाकाम रहने पर युवक ने आग लगा दी। इस तरह की घटनाएं आखिर क्या संकेत देती हैं? तमाम दावों और कोशिशों के बावजूद महिलाओं के साथ घटित ऐसे अपराध क्यों बढ़ते जा रहे हैं और उसका स्वरूप पहले से भी विकृत क्यों होता जा रहा है?

गौरतलब है कि दिल्ली में 'निर्भया' मामले के बाद यूपीए सरकार के दौरान महिलाओं की सुरक्षा सुनिश्चित करने के मकसद से 'निर्भया कोष' गठित किया गया था। लेकिन पिछले हफ्ते सरकार ने संसद को बताया कि अब तक इस कोष की करीब इक्यानबे फीसद राशि का इस्तेमाल ही नहीं किया जा सका। कई राज्यों ने तो इस कोष का पैसा बिल्कुल ही खर्च नहीं किया। सवाल है कि जब सरकारें खुद महिलाओं को सुरक्षित माहौल मुहैया कराना अपनी जिम्मेदारी या सरोकार नहीं मानती है, तो फिर किससे उम्मीद की जाएगी। महिलाओं के लिए न केवल हर जगह असुरक्षा के हालात बने हुए हैं, बल्कि यौन हिंसा के अपराधों के बाद पुलिस का रवैया बेहद लापरवाही भरा होता है। कई स्थितियों में तो पुलिस पीड़ितों के खिलाफ ही नजर आती है। जब आम लोगों के बीच कड़ी प्रतिक्रिया उभरती है तब पुलिस आनन-फानन में ऐसी कार्रवाई करती है जिस पर कई बार गंभीर सवाल उठते हैं। जाहिर है, जो महकमा महिलाओं के खिलाफ अपराधों पर लगाम लगा सकता है, उसे भी अपनी ड्यूटी के प्रति जिम्मेदार बना पाना संभव नहीं हो सका है। फिर वैसी सामाजिक विकास नीतियों पर गौर करना सरकारों को कभी जरूरी नहीं लगा, जो समाज में चारों तरफ फैली पितृसत्तात्मक मानसिकता और कुंठाओं से आजाद पीढ़ी तैयार कर सके। इस तरह के दीर्घकालिक हल की ओर ठोस पहलकदमी किए बिना किसी दबाव के तहत सख्ती बरतने का असर तात्कालिक ही होगा।

कल्पमेधा

स्त्रियों की दशा में सुधार न होने तक विश्व के कल्याण का कोई रास्ता नहीं।

– विवेकानंद

महिला सुरक्षा का संकट

ज्योति सिडाना

आश्चर्य तो तब होता है जब पुरुष समाज यह कहता है कि लड़कियों को रात को घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए या उन्हें आधुनिक शैली के कपड़े नहीं पहनने चाहिए, उन्हें मोबाइल नहीं देना चाहिए। उनसे पूछिए जरा कि घर के अंदर भी लड़कियां कहां सुरक्षित हैं? न पिता से, न भाई से, न दादा से, न मामा से, किसी के साथ भी तो सुरक्षित नहीं है। क्या परंपरागत परिधान पहनने वाली महिलाओं या लड़कियों का बलात्कार नहीं हुआ, क्या मोबाइल का प्रयोग नहीं करने वाली लड़कियों के साथ हिंसा नहीं होती?

देश में बलात्कार की बढ़ती घटनाओं ने महिला सुरक्षा के सवाल की उपेक्षा को एक बार फिर उग्र आंदोलन का रूप दे दिया है। ऐसा लगता है कि अब इस तरह की घटनाएं हमें विचलित नहीं करतीं, अपितु ये सामान्य-सी घटना लगने लगती हैं। कभी चार महीने की बच्ची के साथ तो कभी सत्तर साल की बुजुर्ग के साथ इन घटनाओं की पुनरावृत्ति हमारे सभ्य समाज के मुंह पर एक जोरदार तमाचा है। हैदराबाद में एक महिला चिकित्सक के साथ सामूहिक बलात्कार और हत्या की घटना ने देश को हिला कर रख दिया। पुलिस ने समय पर शिकायत दर्ज नहीं की, महिला को न्याय दिलाने के लिए लोग सोशल मीडिया पर अभियान छिड़ा, नेताओं-मंत्रियों ने कहा कि भविष्य में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए कठोर कदम उठाए जाएंगे, हमारी संवेदनाएं पीड़िता के परिवार के साथ हैं, नागरिक समाज देश के विभिन्न हिस्सों में कैंडल मार्च करता है, और फिर इस मामले के आरोपियों को पुलिस मुठभेड़ में ढेर कर दिया गया। लेकिन सवाल है इससे क्या पीड़िता को न्याय मिला? क्या ऐसा करने से बलात्कार की घटनाओं को रोका जा सकता है?

किसी भी देश में पुलिस मुठभेड़ को वैधता प्रदान नहीं की जा सकती, क्योंकि अगर जनता की चेतना में मुठभेड़ की वैधता को स्थापित होने का मौका मिल रहा है तो यह समग्र देश के लिए और लोकतंत्र के लिए खतरनाक है। कहा जाता है कि न्याय की देवी की आंखों पर काली पट्टी इसलिए बंधी है, ताकि सबके साथ समान न्याय हो सके, किसी के भी साथ लैंगिक, जाति, वर्ग, भाषा, राजनीति या क्षेत्र के आधार पर भेदभाव न हो सके। फिर यह भेदभाव क्यों? न्याय की देवी की आंखों पर काली पट्टी संभवतः शक्तिशाली लोगों ने ही बांधी है, ताकि न्याय की समूची प्रक्रिया अन्याय को देख न सके। निर्भया, कठुआ और उन्नाव कांड क्या कम दर्दनाक थे कि संभल (उत्तर प्रदेश) में एक किशोरी को उसके पडोसी ने बलात्कार के बाद जिंदा जला दिया। राजधानी दिल्ली में चाय की दुकान चलाने वाली पचपन साल की महिला से बलात्कार के बाद उसकी हत्या कर दी गई, रांची में कानून की छात्रा का अपहरण कर सामूहिक बलात्कार किया गया और राजस्थान में एक महिला को पति ने पहले तलाक दिया और उसके बाद ससुर समेत सभी रिश्तेदारों ने उसके साथ मुंह काला किया, यह कहते हुए कि अब वह उनके परिवार की बहू नहीं है। सुना था मनुष्य पहले एक जानवर था, लेकिन इस तरह की वीभत्स घटनाएं बता रही हैं कि मनुष्य आज भी एक जानवर ही है।

एक रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा और स्वीडन जैसे विकसित देश भी बलात्कार की घटनाओं से अछूते नहीं हैं। दुनिया भर में छत्तीस फीसद महिलाएं यौन हिंसा की शिकार होती हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो (एनसीआरबी) के अनुसार 2010 के बाद से महिलाओं के विरुद्ध हिंसा में दस फीसद की वृद्धि हुई है। देश में 2012 में बलात्कार के करीब पच्चीस हजार मामले आए थे, 2017 में यह आंकड़ा उनतालीस हजार पहुंच गया। इसमें मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र क्रमशः पहले, दूसरे और तीसरे स्थान पर रहे। ये आंकड़े तो सिर्फ वे हैं जो पुलिस मे दर्ज हुए हैं। बलात्कार के ज्यादातर मामले तो दर्ज ही नहीं हो पाते। आंकड़े बताते हैं कि भारत में हर पंद्रह मिनट में एक लड़की या महिला बलात्कार का शिकार हो जाती है। हाल में एक तमिल फिल्म निर्देशक ने यह कह डाला कि महिलाओं के विरुद्ध जो अपराध हो रहे हैं, उनके लिए वे खुद जिम्मेदार हैं, वे ऐसी स्थिति बनाती हैं कि घटना घटे। अगर वे सही तरह से व्यवहार करें तो सब ठीक रहेगा। उनका कहना है कि पहले महिलाओं पर बंदिशें थीं जो मोबाइल के आने के बाद खत्म हो गई। उन्होंने महिलाओं पर लगने वाली बंदिशों को सही ठहराया। जिस देश में ऐसी सोच रखने वाले लोग हों उस देश में संभवतः ऐसी घटनाएं चौंकाती नहीं हैं। खेत से लेकर घर, बाजार, दफ्तर, क्लब, स्कूल, कालेज, सड़क, बस, ट्रेन, कैब और शौचालय शायद ही कोई जगह ऐसी बची हो, जहां महिला सुरक्षित अनुभव करती हों। यह हमारे समाज की भयावह तस्वीर है।

अब तक की ज्यादातर घटनाओं से यही तथ्य सामने आते हैं कि कानून की लचर व्यवस्था और पुलिस प्रणाली इस तरह के मामलों में संवेदनहीनता का परिचय देती रही है। पीड़िता के परिवारीजनों को एक थाने से दूसरे थाने तक चक्कर लगवाना, लड़कियों को ही दोषी ठहराना, ज्यादातर मामलों में पुलिस द्वारा एफआइआर दर्ज न करना पुलिस के अमानवीय व्यवहार का ही परिचायक है। फिर जो मामले थानों और अदालतों तक पहुंचते भी हैं, वे कानूनी पेचीदगियों का शिकार हो जाते हैं। निर्भया का मामला इसका जीता-जागता उदाहरण है। क्या इसे तात्कालिक न्याय कहा जा सकता है। महिलाओं के विरुद्ध होने वाले जघन्य अपराधों को सरकार और कानून के रखवाले इतने हलके में कैसे ले सकते हैं, यह गंभीर सवाल है।

आश्चर्य तो तब होता है जब पुरुष समाज यह कहता है कि लड़कियों को रात को घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए या उन्हें आधुनिक शैली के कपड़े नहीं पहनने चाहिए, उन्हें मोबाइल नहीं देना चाहिए। उनसे पूछिए जरा कि घर के अंदर भी लड़कियां कहां सुरक्षित हैं? न पिता से, न भाई से, न दादा से, न मामा से, किसी के साथ भी तो सुरक्षित नहीं है। क्या परंपरागत परिधान पहनने वाली महिलाओं या लड़कियों का बलात्कार नहीं हुआ, क्या मोबाइल का प्रयोग नहीं करने वाली लड़कियों के साथ हिंसा नहीं होती? इस तरह के कथन या विचार पुरुष समाज की विकृत मानसिकता के द्योतक हैं। संविधान में पुरुष और महिला को समानता का दर्जा दिया गया है, समान अधिकार दिए गए हैं, यहां तक कि यह भी लिखा है कि कानून की नजर में सब समान हैं। इसलिए यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आखिर क्यों बलात्कार के मामले, घरेलू हिंसा के मामले सालों लंबित रहते हैं और आरोपी खुले घूमते रहते हैं। यही वह वजह है कि अपराधियों में कानून का कोई भय नहीं होता क्योंकि वे जानते हैं कि कानून केवल कागजी हैं। ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जहां तेजाब फेंकने, दहेज हत्या या बलात्कार के मामले में पीड़िता के परिवारजनों को अदालतों के चक्कर लगाते-लगाते सालों बीत गए, पर इंसाफ नहीं मिला।

इस तरह की घटनाएं इस बात की ओर संकेत करती हैं कि अब लोगों को संवैधानिक नैतिकता के प्रति शिक्षित करने और प्रतिबद्ध बनाने के लिए एक बड़े और सघन अभियान की जरूरत है। शैक्षणिक संस्थानों के माध्यम से आमजन को शिक्षित और जागरूक करने की जरूरत है। हमें यह खोजना पड़ेगा कि ऐसे कौन से कारक हैं जिनके कारण लोगों में आक्रामकता और हिंसा बढ़ रही है? इस तरह के अपराधों को अंजाम देने वाले लोगों को लगता है कि कहीं न कहीं इनके बचाव में राज्य और समुदाय की शक्तियां सक्रिय हो जाती हैं। उदाहरण के लिए आसाराम और चिन्मयानंद जैसे लोग जिन्हें बचाने के लिए उनके चेले-चपाटे आ खड़े होते हैं यह जानते हुए कि वे महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के जघन्य अपराध में लिप्त हैं। ऐसे मामलों में जब-तब राजनीतिक संरक्षण की बातें भी सामने आती रही हैं।

इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि हर जाति, धर्म, समुदाय, राज्य में महिलाएं पीड़ित और शोषित ही रहती हैं। अब जबकि परिवार के पुरुष सदस्यों पर भी विश्वास डगमगा गया है तो महिलाओं की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है कि वे अपने स्तर पर कोई प्रयास करें और खामोश न रहें, क्योंकि अब अगर महिलाएं खामोश रहीं तो उन्नाव, कठुआ, हैदराबाद, टोंक, दिल्ली जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति को रोकना संभव नहीं होगा।

सेहत की सवारी

कुंदन कुमार

दुनिया मेरे आगे

स्वास्थ्य और पर्यावरण से संबंधित समस्याओं में लगातार बढ़ोतरी ने हमारा जीना दूभर कर दिया है। देश-दुनिया के लोग खुद को स्वस्थ रखने के लिए अपने ऊपर लाखों रुपए खर्च कर रहे हैं। हम अपने शरीर को सुंदर और स्वस्थ बनाए रखने के लिए सुबह-शाम जिम में पसीना बहाते हैं और फिर कार में बैठ कर दफ्तर जाते हैं। अगर हम इन आदतों को बदल लें तो मुफ्त में अपने शरीर को निरोग बना सकते हैं और अपने पर्यावरण को भी स्वच्छ बनाए रख सकते हैं। लेकिन इसके जो उपाय हैं, उन पर गौर करना बहुत सारे लोगों को जरूरी नहीं लगता है।

दरअसल, भारत में लोग साइकिल की सवारी को गरीबों एवं पिछड़ों की सवारी मानते हैं, जबकि दुनिया के अन्य देशों में यह समृद्ध और समझदार लोगों की सवारी माना जाता है। एक परिचित सज्जन से बात कर रहा था तो बातचीत के मुख्य विषय के बीच में उन्होंने कहा कि साइकिल की सवारी हमारी उम्र को दस साल तक बढ़ा देती है। मुझे नहीं मालूम कि उन्होंने इस पर कोई शोध किया है या नहीं, लेकिन मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि साइकिल की सवारी सबको निरोग या स्वस्थ बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि साइकिल इक्कीसवीं सदी का सबसे अच्छा और सस्ता वाहन है। साइकिल की घंटी की टन्न-टन्न, टन्न-टन्न की मधुर ध्वनि मन को शांति और काफी राहत देती है।

यह सब जानते हैं कि दिल्ली समेत भारत के अन्य शहरों की आबोहवा किस कदर जहरीली हो चुकी है। स्वच्छ जल और साफ भोजन के बाद अब स्वच्छ वायु भी मयस्सर होना मुश्किल हो चुका है। शहरों की सड़कों पर सांय-सांय की तेज रफ्तार से चलती गाड़ियां एक साथ ध्वनि और वायु प्रदूषण फैला रही हैं। कार और अन्य वाहनों के साइलेंसर से निकलने वाला अनदेखा धुंआ चुपचाप वायु को विषैला बना रहा है। यह हमारे स्वास्थ्य को बहुत हद तक प्रभावित करता है।

वहीं साइकिल एक ऐसा सस्ता और टिकाऊ वाहन है, जिसे चलाने से न तो हवा में जहर फैलता है और न ही उसके हार्न की तेज आवाज से किसी राहगीर के कान का परदा फटने का डर रहता है। लेकिन शहरों में जिंदगी की आपाधापी और उपभोक्तावाद की संस्कृति ने शहरों की सड़कों पर से साइकिल को गायब कर दिया है। यहां की अधिकतर आबादी अब साइकिल की सवारी से मुंह फेरने लगी है। वहीं गांव में मेरे एक रिश्तेदार को शादी में तोहफे में मिला काफी पहले का साइकिल आज भी आकर्षण का केंद्र बना रहता है। चालीस साल बीत जाने पर भी वह साइकिल एकदम दुरुस्त दिखती है। जब उन्हें शादी में वह साइकिल मिली थी, तब भी किसी के पास साइकिल नहीं होने की वजह से आसपास के लोग देखने आए थे और आज उसका आकर्षण उसके सजे-संवरे होने की वजह से बना हुआ है।

एक बार मेरे वे रिश्तेदार किसी धार्मिक आयोजन में शिरकत करने बगल के गांव में जा रहे थे। इनको साइकिल से आते देख कर इनके पड़ोस में रहने वाले लड़के ने इनसे साइकिल पर बैठाने का आग्रह किया। फिर उसके जिद पकड़ लेने के बाद उसे साइकिल पर बिठा कर चल पड़े। आधी रात को वह कार्यक्रम बीच में ही छोड़ कर वे साइकिल से चुपके से अपने ससुराल निकल पड़े। चूंकि कृष्ण पक्ष की अंधेरी रात थी। गांव की सड़कों पर गहरे अंधेरे का साम्राज्य व्याप्त था। इसी बीच वे धीरे-धीरे किसी तरह अंदाजे से साइकिल चलाते हुए चले जा रहे थे कि कब वे सड़क से किनारे उतर गए, उन्हें पता नहीं चला। अचानक वे समतल मुंडेर वाले कुएं में साइकिल सहित गिर पड़े। गनीमत यही थी कि पास में कुछ घर थे और उनकी बचाओ-बचाओ की आवाज किसी तरह पहुंच गई। गांव के और लोग जमा हुए और किसी तरह उन्हें साइकिल सहित बाहर निकाला। वह पूरा प्रसंग वे आज भी गांव के चौपाल पर या किसी के घर आने वाले मेहमानों को चटखारे लेकर खुद सुनाते हैं।

खैर, इस रोचक प्रसंग के अलावा, हकीकत यह है कि साइकिल एक ऐसा वाहन है जो न कोई और ईंधन खाता है और न तेल पीता है। आमतौर पर साइकिल किसी सड़क जाम में भी नहीं फंसता। एक मजाक के तौर पर देखें तो ट्रैफिक नियमों को तोड़ने पर बाइक और दूसरे वाहनों के चालकों को भारी रकम जुर्माने के तौर पर चुकानी पड़ती हैं। लेकिन शायद ही कभी किसी साइकिल वाले का चालान कटते किसी ने देखा होगा। हालांकि मैं साइकिल की सवारी करते हुए भी यातायात नियमों का पालन करने की वकालत करता हूं। अगर लोग ज्यादा से ज्यादा साइकिल का प्रयोग करें तो सड़कों पर जानलेवा दुर्घटनाओं में कमी आ सकती है। नीदरलैंड, स्पेन और न्यूजीलैंड के लोग साइकिल की सवारी को शाही सवारी समझते हैं और वह कम दूरियों के सफर को साइकिल से तय करते हैं। अगर हम अपने नजरिए को बदल कर छोटी दूरी का सफर साइकिल से तय करें तो यह हमारे स्वास्थ्य के साथ-साथ पर्यावरण की सेहत के लिए भी लाभदायक होगा।

मजदूरों की जान

रविवार दिल्ली में एक फैक्ट्री में काम करने वालों और उनके परिवार वालों के लिए त्रासद दिन बन गया। रिहायशी इलाके में चल रही एक फैक्ट्री में आग लगने से अंदर सो रहे उनसठ में से लगभग तैंतालीस लोगों को सरकार, प्रशासन और अन्य भ्रष्ट अधिकारियों की लापरवाही ने मौत की नींद सुला दिया। लेकिन जिस देश में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर हो, जहां सरकारी तंत्र भ्रष्टाचार के दलदल में बुरी तरह धंसा हो, वहां भविष्य में भी ऐसी लापरवाही से होने वाले हादसों पर शायद ही लगाम लगे, क्योंकि यहां पैसे के गोरखधंधे के लिए अवैध और असुरक्षित निर्माणों पर कोई काबू नहीं है।

यहां सवाल यह भी खड़ा होता है कि जो लोग करोड़ों की बहुमंजिला इमारत बनाने और इन इमारतों से कमाई के लिए करोड़ों रुपए खर्च कर देते हैं, वे महज कुछ लाख रुपए आग से बचाव के साधनों पर क्यों नहीं खर्च करते? अब इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना के बाद फिर से सरकार, प्रशासन और अन्य लोग कुंभकर्णी नींद से जागेंगे। इस घटना की जांच के आदेश देकर और कुछ मुआवजे का मरहम लगा कर अगले किसी ऐसे दिल दहलाने वाले हादसे के इंतजार में लंबी तान के सो जाएंगे। लेकिन ऐसे हादसे क्यों होते रहते हैं? इनके लिए कौन-सी लापरवाहियां जिम्मेदार हैं? आखिर क्यों नहीं ऐसे हादसों से सबक लेते हुए कुछ फैक्टरी, कारखानों या अन्य संस्थान अपने यहां आग, भूकम्प या अन्य हादसों से निपटने के लिए पुख्ता इंतजाम करते हैं?

या फिर यह समझा जाए कि ऐसी लापरवाही बरतने वालों को मजदूरों और कामगारों की जान की परवाह नहीं होती है? ऐसे लोगों से एक सवाल है कि क्या मजदूर और कामगार इंसान नहीं? मजदूरों के बिना कोई भी उद्योग तरक्की की राहों मे नहीं जा सकता है और देश के विकास में मजदूरों का भी बहुत बड़ा योगदान होता है। इनके वर्तमान और भविष्य को सुरक्षित करने के लिए इनके हक में श्रम सुधारों की बहुत जरूरत है। अभी भी हमारे देश में बहुत से स्थानों पर इनका शोषण होता है। लेकिन इसके उलट श्रम सुधारों की मौजूदा दिशा मजदूर विरोधी है। सरकारों के प्रयास भी तभी सार्थक होंगे, जब इसके लिए भ्रष्टाचार को समाप्त करने के उपाय भी किए जाएं।

● *राजेश कुमार चौहान, जालंधर*

कठघरे में व्यवस्था

दस दिसंबर को सभी देशों द्वारा अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस मनाया जाता है, क्योंकि 1945 में इसी दिन संयुक्त राष्ट्र के मंच पर मानवाधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया था। उसमें व्यक्ति के मौलिक अधिकारों और स्वतंत्रता को बढ़ावा और सुरक्षा देना प्रमुख है। लेकिन हाल में पुलिस पर हैदराबाद मुठभेड़ को लेकर लोगों ने मानवाधिकार के हनन का आरोप लगाया है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने इसकी जांच के आदेश भी दिए हैं।

मानवाधिकार दिवस मानाने से हमारा तात्पर्य लोगों को अधिक से अधिक उनके अधिकारों के बारे में बताना होता है। हैदराबाद में जो कुछ हुआ, वह सब कानून के मुताबिक न होकर सिर्फ भावनाओं को लेकर किया गया फैसला है। स्वाभाविक ही मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने इस पर सवाल उठाना शुरू कर दिया है। लेकिन कुछ लोगों ने पुलिस के कदम को सही ठहराया और उसे 'डिवाइन जस्टिस' या 'दैवी न्याय' कहा। सवाल है कि संविधान और नियम-कायदों से चलने वाले किसी सभ्य समाज में यह सजा देने का तरीका क्या सही है?

मेरा साफ मानना है कि नहीं। यह बेमानी दलील दी जाती है कि अगर आपकी बहन या बेटी के साथ ऐसा होता तो आप क्या करते? दिक्कत पुलिस के काम करने के तौर-तरीके और न्यायपालिका की मंद गति में छिपी है। इसके लिए किसी व्यक्ति के निजी आग्रहों को दलील नहीं बनाया जा सकता। व्यवस्था में ऐसा सुधार किया जाना चाहिए, ताकि लोगों का भरोसा इस पर कायम हो। कानूनों के साथ खिलवाड़ करने वाले अपराधियों के साथ-साथ पुलिसकर्मियों को भी कठघरे में खड़ा किया जाए।

● *संदीप कुमार, प्रयागराज*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

लोकतंत्र के हक में

भारत एक लोकतांत्रिक देश है। लेकिन सच यह है कि आज केवल सत्ता को चलाने वाली पार्टी का ही बोलबाला दिख रहा है। विपक्ष को इतना दबा दिया गया है कि वह किसी भी नीति पर सवाल खड़ा नहीं कर पा रहा है। समाज, राजनीति, बुद्धिजीवियों की दुनिया- किसी ओर से भी सरकार से हिसाब नहीं मांगा जा रहा है, बल्कि उलटे भक्ति का माहौल देखा जा रहा है, जो देश के लोकतंत्र के लिए ठीक नहीं है। सवाल है कि क्या संविधान में लिखे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं रह गया है? भारत को धीरे-धीरे चीन के रास्ते पर नहीं बढ़ना चाहिए, जहां अभिव्यक्ति पर अनेक तरह की सीमाएं लगाई गई हैं। अगर ऐसा हुआ तो हम भी तानाशाही व्यवस्था की चपेट में आ सकते हैं, जहां बोलने को स्वतंत्रता नहीं मिलेगी।

फिलहाल हम एक लोकतांत्रिक देश में रहते हैं। हम अपना नेता खुद चुनते हैं। महलों की औलादें हमारी तकदीर नहीं लिखतीं। हम बोल सकते हैं। हमारे हाथ नारों के साथ लहरा सकते हैं। हमारा दिल बेखौफ होकर धड़क सकता है। हमारे होंठ हिल सकते हैं। हमारा सिर 'इनकार' में भी हिल सकता है। हम सरकार की बुराइयां दिखा सकते हैं। हम सरकार बना और गिरा सकतें हैं। देश यहां के लोगों से चलता है और यही लोकतंत्र की खूबसूरती है।

लेकिन यह सरकार अपनी मर्जी से सरकारी संस्थाओं को निजी क्षेत्र में धकेल रही है, जनता के पैसों को अरबपतियों में बांट रही हैं। क्या इसका हिसाब लेने वाला कोई नहीं है? लोकतांत्रिक देश में होने के नाते इन सवालों का जवाब पूरा देश जानना चाहता है।

● *आयुष द्विवेदी, हंसराज कॉलेज, दिल्ली विवि*

दुख की आग

दिल्ली के अनाज मंडी अग्निकांड के बाद एक खौफनाक मंजर है, जहां कुछ सिसकियों को छोड़ कर सब कुछ खामोश है। व्यवस्था के दरकने का इससे तकलीफदेह नमूना नहीं हो सकता। चार मंजिला मकान के अंदर बगैर सुरक्षा इंतजामों के खामोशी से मशीनें धड़धड़ाती रहीं और किसी को कानो-कान खबर नहीं हुई। मौत की फैक्ट्रियां एक दिन में नहीं बनतीं। लेकिन वही मौत जिंदगी को जरा भी मोहलत नहीं देती। बुरा हो उस सियासत का, जो जली लाशों पर हाथ सेंकने से बाज नहीं आती।

हादसे में मारे गए मजदूरों के परिजनों का दर्द बयान करने को शायद शब्द न मिले। जबकि अग्निशमन के अधिकारी राजेश शुक्ला को कई जानें नहीं बचा पाने का गम खाए जा रहा है। बेशक उनकी बहादुरी और दिलेरी की चर्चा हो, मगर ग्यारह लोगों को बचा लेने की खुशी उनके चेहरे से गायब है। मर्माहत परिजनों के गम के आगे हर खुशी कुर्बान है।

● *एमके मिश्रा, रातू*

www.readwhere.com